

आर्थिक विकास के सवाल और बौद्धिक दिवालियापन ?



चरण सिंह

प्रकाशन-विभाग
किसान-ट्रस्ट दिल्ली

प्रकाशन विभाग,
दि किसान-ट्रस्ट दिल्ली
12, तुगलक रोड,
नई दिल्ली-110011

प्रथम संस्करण : दिसम्बर 1984

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मूल्य : एक रुपया

दि किसान ट्रस्ट दिल्ली की ओर से अजर्यसिंह द्वारा प्रकाशित
एवं एस. पी. प्रिंटर्स, ई/120, सेक्टर 7, नौएडा, (गाजियाबाद)
फोन : 805-3120 से मुद्रित ।

प्रकाशकीय वक्तव्य

कांग्रेस-सरकार ने, देश की गरीबी तथा बेरोजगारी मिटाने और देश को आर्थिक तथा औद्योगिक दृष्टि से समर्थ बनाने के लिए पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण किया था। इन योजनाओं के निर्माण तथा कार्यान्वयन में असंख्य धन तथा असीम श्रम भी लगाया गया था, किन्तु उससे देश को, उतना लाभ नहीं हुआ, जितना होने का प्रचार किया गया था। ऐसा इसलिए हुआ कि पहले तो योजना-निर्माण की नीति में कुछ आधारभूत गलतियाँ हुईं। पं० जवाहरलाल नेहरू ने, उन भूलों का अनुभव किया था, किन्तु दुर्भाग्य से, उनके निवारण का समय उनको नहीं मिल सका। उनके उत्तराधिकारी शासन ने, नेहरू जी के सपनों का भारत बनाने की दिशा में, अपने दायित्व का निर्वाह किस सीमा तक किया, इस दिशा में वह कितना सफल तथा असफल हुआ अतीत के अनुभव से उसने कितना सीखा और देश को किस सीमा तक आगे बढ़ाया अथवा पीछे धकेला? इन प्रश्नों का तात्त्विक विश्लेषण चौधरी साहब ने इस पुस्तक में किया है।

चौधरी चरणसिंह जी गांधीवादी विचारक हैं। उनकी आर्थिकनीति का मूल स्वर देश की आम जनता का आर्थिक स्तर ऊंचा करना है। वह एक ऐसी नीति का प्रतिपादन करते हैं जो देश से गरीबी, बेरोजगारी, मंहगाई और अभावों के निवारणमें सार्थक योग दे सकती है।

चौधरी साहब शुद्ध आचरण और नैतिक मूल्यों के जबदस्त हामी हैं, कथन और कर्म की एकता में विश्वास रखते हैं, राजनीति को धर्म तथा नैतिकता के माध्यम से देखने के पक्षधर हैं और देश को सम्पन्न तथा समर्थ बनाने की दिशा में गम्भीरता-पूर्वक सोचते हैं, अन्य लोगों की तरह सोचने का नाटक नहीं करते।

यह पुस्तक चौधरी साहब के चिंतन की दिशा का निर्देश करती है। मेरा विश्वास है कि इस पुस्तक के सहारे पाठक एक ओर तो हमारी पंचवर्षीय योजना के औचित्य को समझ सकेगा और दूसरी ओर भारत की आर्थिक विकास की सही दिशा को जान सकेगा।

अजर्यासिंह

मैनेजिंग ट्रस्टी, किसान-ट्रस्ट, दिल्ली

भारत पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अधिकार होने से पहले, भारत सोने की चिड़िया कहलाता था। यहां धन तथा धान्य की कोई कमी नहीं थी। देश के अनेक शहरों में छोटे-छोटे उद्योग फैले हुए थे। लोग मेहनत से अच्छा माल पैदा करते थे, जिससे देश तथा विदेशों में व्यापार होता था। ढाका में मलमल बुनी जाती थी, नासिक में बर्तन बनाये जाते थे, चटगांव में जहाज बनाने का कारखाना था। आगरा दरियां तथा कालीन और जयपुर रंगीन तथा छपाई के वस्त्रों के लिए विख्यात था। यहां का तैयार माल, एशिया तथा योरोप के कई देशों तक पहुंचता था। भारत अपनी समृद्धि तथा वैभव के लिए दुनिया में मशहूर था। दूसरे देश, इसको ईर्ष्या की नजर से देखते थे। विदेशी आक्रमणकारी यहां आते और अरबों की सम्पत्ति लूट कर चले जाते, पर भारत कुछ ही वर्षों में इस हानि को पूरी कर लेता। यहां की जमीन अन्न और सोना उगलती थी यानी किसान, पुराने साधनों से ही, बहुत बड़ी तलाश में खाद्यान्न पैदा करते थे और करीगर कपड़ों पर इतनी सुन्दर कारीगरी करते थे कि उनके निर्यात-मूल्य से भारत का खजाना भरा रहता था।

मुगल-शासन ने, इस्लाम के प्रचार को, अपना आधार तो बनाया था, पर जनता की खुशहाली को बनाये रखने की जवर्दस्त कोशिशें की थीं। उन्होंने इस देश को अपना देश माना और उसकी आर्थिक तथा सांस्कृतिक समृद्धि में योग दिया। इसके ठीक उल्टा कार्य ईस्ट इण्डिया कम्पनी और उसके अंग्रेज मालिकों ने किया। उन्होंने भारत के उद्योगों को नेस्तनाबूद करने के लिए कानून बनाए। यहां के कच्चे माल को इंग्लैण्ड भेजने और वहां बने तैयार माल को भारत में बेचने की नीति अपनाई। यानी भारत को केवल एक मण्डी का दर्जा दिया गया।

15 अगस्त, 1947 को, देश का शासन पाने वाली राष्ट्रीय सरकार का यह दायित्व था कि अंग्रेजी सरकार द्वारा, भारत की जमीन पर, भारत-विरोधी किए गए कामों को मिटा देनी, मसलन भारत के चौपट किए गए उद्योग-बंधों को फिर से जीवित करनी, उसके विदेशी-व्यापार को बढ़ावा देनी, खेती की पैदावार को बढ़ाती, अंग्रेजों द्वारा विनष्ट भारत की नैतिक परम्परा को पुनर्जीवित करनी, राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान पाई जाने वाली धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रीय-एकता की भावना को बढ़ाती, दिनों दिन गिरावट की ओर जाने वाले सांस्कृतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना करनी और भारत को फिर से सोने की चिड़िया बनाती, अंग्रेजों द्वारा भारत को कमजोर करने वाली भाषा तथा धर्म के विवादों वाली नीति को, हमेशा के लिए दफना देनी, किन्तु कांग्रेस-पार्टी

की राष्ट्रीय-सरकार ऐसा नहीं कर पाई। वह देश को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न बनाने और धार्मिक एकता के एक मूत्र में पिरौने में पूरी तरह असफल हुई है। पिछले दिनों के अलीगढ़, मुरादाबाद, मेरठ, अहमदाबाद तथा भिवन्डी (बम्बई) के साम्प्रदायिक दंगे इस बात के प्रमाण हैं। देश की आर्थिक स्थिति खराब हो गई है, इस बात का संकेत, 6 अप्रैल 1984 को, लोजसभा में वित्त राज्य मन्त्री श्री एम० एम० कृष्ण द्वारा दिए गए वक्तव्य से मिलता है, जिसमें कहा गया है कि 1977 से 84 के बीच भारत पर विदेशी ऋण 110.88 अरब से बढ़कर 190.19 अरब हो गया है। खाद्यान्न की मलाई और विकास के लिए धनराशि पर जो देश दूसरों पर निर्भर करता है, उसकी आर्थिक सम्पन्नता संदिग्ध मानी जायेगी। ज़रूरत इस बात की थी कि इस स्थिति को सुधारा जाता, पर इस आर्थिक विपन्नता के वातावरण में भी केवल विदेशी मेहमानों के सामने, अपनी शान-शौकत का ढिंढोरा पीटने के लिए, इन्का सरकार ने पांच-मितारे होटलों का तो निर्माण कराया, किन्तु देश के लाखों गांवों की प्यासी जनता के लिए पीने का मीठा पानी जुटाने की आवश्यकता नहीं समझी, खेल-गांव तथा हॉस्टिल बनाने पर अरबों रुपये तो खर्च किये, किन्तु दिल्ली में बेबर-वार लोगों के लिए मकान नहीं बनाए, कोआ में विदेशी मेहमानों की खातिरदारी पर करोड़ों रुपये तो खर्च किए, पर विभिन्न राज्यों में समुद्री तूफान-पीड़ित लोगों की पूरी सहायता नहीं की, उसने दिल्ली को सजाने और रोशन करने का प्रयास तो किया, पर गांवों के अंधकार को दूर करने में अमफल रही, उसने शहरों को सुन्दर सड़कों से सजाने की ओर तो ध्यान दिया, पर देहात को धूल तथा कीचड़ से छुटकारा दिलाने की कोशिश बिल्कुल नहीं की, उसने विदेशों से खाद्यान्न मंगाने की आत्मघाती नीति तो अपनाई, पर अपने देश के किसानों को सस्त दरों पर बिजली तथा पानी देकर खाद्यान्नों का फालतू भण्डार बनाने की बात नहीं सोची, उसने विदेशों में अपनी शानदार तम्बीर बनाने की योजना तो की, किन्तु देश के दैनिक प्रशासन में व्यस्त भ्रष्टाचार से विगड़ती हालत को सुधारने की बात को गम्भीरता के साथ कभी नहीं लिया, उसने अनेक आर्डीनेंस पास करके अपने हाथ मजबूत तो किए, किन्तु देश में शांति तथा व्यवस्था की विगड़ती हालत को नहीं सुधारा, उसने देश में फैली अनैतिकता, अव्यवस्था तथा अशांति को रेडियो तथा टी०वी० के भाषणों तथा नीति-वाक्यों के प्रसारण से दूर करने की योजना तो बनाई, किन्तु अपने अनुयायियों में नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न नहीं की। इसका परिणाम हुआ कथन और कर्म का अन्तर, कथनी तथा करनी का विरोध। कांग्रेसी नेताओं ने भाषण लोकतन्त्र तथा समाजवाद के सिद्धांतों पर दिए, किन्तु देश में मदैव एक दल तथा एक परिवार का शासन स्थापित करने के भरसक प्रयास किए हैं।

कांग्रेस और वाद में इन्का नेतृत्व द्वारा नैदानिक रूप में वातें साम्प्रदायिक एकता की की गई, किन्तु स्वयं कांग्रेस द्वारा आम चुनावों में जातिवाद के आधार पर

प्रत्याशी चुनने की प्रणाली प्रारम्भ की गई, यानी जिम क्षेत्र में, जिस जाति के मत-दाताओं का आधिक्य था, उसी जाति का व्यक्ति अपना प्रत्याशी बनाया गया। यह नीति, केवल जीत और अधिकार को सामने रखकर अपनाई गई, जनतन्त्र के सिद्धांत, मानवीय मूल्य, उदात्त सांस्कृतिक मानदण्डों की रक्षा और राष्ट्र के बहुमुखी यथार्थ विकास की दृष्टि से नहीं। जिस देश में, आजादी से पहले, वोट प्रत्याशी की देशभक्ति और राष्ट्रीय हितों के कामों की अधिकता पर मिला करते थे, उस देश में, जाति के आधार पर वोटों का विभाजन और आंकलन होने लगा। स्वाधीन भारत को यह कांग्रेस पार्टी की विशेष देन है। “जातिवादी कौन” नामक लघु पुस्तक में, मैं, विस्तार के साथ इस विषय पर प्रकाश डाल चुका हूँ।

राजनीतिक जीवन में मानवीय मूल्यों की अवहेलना, धर्म और नैतिकता के स्थान पर राजनीति को व्यक्ति और दल के फायदे से देखना, यानी व्यवहार में गांधी वादिता के स्थान पर मेकियावलीवाद को अपनाना, कांग्रेस नेतृत्व की देन है। समस्या चाहे बांग्लादेश से आसाम में आये घुसपैठिये शरणार्थियों की रही हो, और चाहे पंजाब में, उग्रवादियों के रूप में घुसे विदेशी जासूसों की, इका सरकार ने, देर से कदम उठा कर, निर्णय मंदाव, इस दृष्टि से और ऐसे समय लिए हैं, ताकि चुनाव के दंगल में, उसको अधिक अंक मिलने की संभावना हो। ये तथ्य, इका-नेतृत्व जिमके हाथ में देश का शासन भी है, की नीयत के परिचायक हैं। देश की राजनीतिक परिस्थितियों का निष्पक्ष अध्येता निष्चय ही इस निष्कर्ष पर पहुंचेगा कि कांग्रेस और इका के लम्बे शासनकाल में, भारत का आर्थिक उत्कर्ष उस सीमा तक नहीं हुआ, जिम सीमा तक होना चाहिए था। जहां तक व्यक्ति के नैतिक मूल्यों के प्रति निष्ठा का सवाल है, इका सरकार उसको शून्य की सीमा तक पहुंचाने के लिए उत्तरदायी है।

सच्चाई यह है कि भारत का कांग्रेसी-नेतृत्व देश के आर्थिक विकास के लिए समुचित नीति निर्धारित करने में, यदि आंशिक रूप से असफल हुआ है तो निर्धारित नीतियों को व्यावहारिक रूप देने में, एक बहुत बड़ी सीमा तक, असमर्थ रहा है।

अक्टूबर, 1954 में पं० जवाहरलाल नेहरू ने चीन की यात्रा की थी। इस यात्रा के दौरान, समाजवादी चीन के विकास को देखकर, भारत में समाजवादी समाज-स्थापना की प्रेरणा उनको मिली। इस बात का संकेत, राष्ट्रीय विकास परिषद् की तीसरी बैठक में 7 नवम्बर, 1954 को कहे गए उनके शब्दों से मिलता है। पं० नेहरू ने, अपने समाजवादी स्वप्न को माकार करने के लिए, कांग्रेस के आवदी वाले वार्षिक अधिवेशन (1955) में समाजवादी समाज-स्थापना का लक्ष्य तो रखा था, किन्तु उम

लक्ष्य को पूरा करने अथवा अपने समाजवादी सपने को साकार रूप प्रदान करने की दिशा में, कोई ठोस कदम नहीं उठाया। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि लोक-सभा में पूर्ण बहुमत होने पर भी कांग्रेस-नेतृत्व इस दिशा में, महत्वपूर्ण कदम नहीं उठा सका।

कांग्रेस-नेतृत्व की इस असफलता से, एक निष्कर्ष, यह निकाला जा सकता है कि पं० नेहरू और उनकी कांग्रेस के सामने, भारत में समाजवाद स्थापना की स्थिति तक पहुंचने के लिए, भारतीय वातावरण के अनुकूल, कोई ठोस योजना नहीं थी; जो कुछ था, वह विदेशी अनुभवों पर आधारित, विदेशी विशेषज्ञों की मलाह थी। आज, यह बात भली प्रकार स्पष्ट हो चुकी है कि रूसी अर्थशास्त्री पी० सी० महालेनोविस की मलाह पर, पहली पंचवर्षीय योजना में निर्धारित कृषि-विकास का लक्ष्य, दूसरी पंचवर्षीय योजना में कम हो गया और सारा बल भागी औद्योगिक विकास पर दे दिया गया। इस प्रकार भारत की सामाजिक, आर्थिक तथा संसाधन विषयक क्षमता की अवहेलना करके, समाजवादी समाज के विकास का एक अव्यावहारिक रास्ता खोजा गया। यह रास्ता द्वितीय पंचवर्षीय योजना में निर्धारित लक्ष्यों का था। भारतीय अर्थशास्त्री प्रो० सी० एन० वकील द्वारा, "मुक्त-उद्यम" के तत्वावधान में आयोजित 6 जून, 1978 की वम्बई वाली बैठक में, पं० नेहरू तथा उनकी नीतियों की आलोचना की गई। इस आलोचना से, मेरे मत की पुष्टि होती है।

पं० नेहरू ने, विदेशी विशेषज्ञों की मलाह पर, देश के औद्योगिक विकास का लक्ष्य पश्चिम की तकल पर, विशेषतः इंग्लैण्ड और अमेरिका को दृष्टि में रखकर निर्धारित किया, किन्तु उस समय यह तथ्य भुला दिया गया कि इंग्लैण्ड तथा अमेरिका ने औद्योगिक विकास का लक्ष्य निर्धारित करने से पहले, विकास की एक मंजिल, पूरी कर ली थी, यानी कृषि-विकास का लक्ष्य पूरा कर लिया था अथवा यह कहा जा सकता है कि कृषि-उत्पादन की दृष्टि से समृद्धि हासिल कर ली थी। यही नहीं, दूसरे विश्व-युद्ध के बाद, कृषि पर निर्भर रहने वाली अपनी जनसंख्या की तादाद घटाने में एवं खाद्यान्न उत्पादन की क्षमता बढ़ाने में अमेरिका समर्थ हो गया था। उदाहरण के लिए मन् 1940 से पहले अमेरिका की खेती पर रहने वाली जनसंख्या 23 प्रतिशत थी, वह घटकर 5 प्रतिशत हो गई। दूसरी ओर खाद्यान्न का उत्पादन छठे, सातवें तथा आठवें दशकों में निरंतर बढ़ता गया। 1979 में, वह 6 अरब डालर से बढ़कर 32 अरब डालर का हो गया। कहने का तात्पर्य यह है कि औद्योगिक विकास की नीति अपनाने के बावजूद, खाद्यान्न-उत्पादन की दिशा में, अमेरिका ने कभी शिथिलता नहीं आने दी। उसने 4,130 लाख एकड़ भूमि के एक चौथाई भाग में, केवल निर्यात के

लिए खेती कराने की नीति अपनाई और इस प्रकार खाद्यान्न के निर्यात द्वारा 70 अरब डालर की कमी को पूरा कर लिया, जो विदेशों से तेल मंगाने के कारण पैदा हो गई थी।

इस विश्लेषण से यह बात भली प्रकार स्पष्ट हो जाती है कि अमेरिका की सम्पन्नता और समृद्धि का कारण वहां की सरकार द्वारा भली प्रकार सोच-समझ कर बनाई गई उनकी योजनाएं हैं और भारत की गरीबी, विदेशी ऋण तथा सहायता पर निर्भर रहने का कारण, कांग्रेसी नेतृत्व द्वारा, बिना सोचे-समझे भारतीय परिस्थितियों के सर्वथा विपरीत, विदेशी विशेषज्ञों की सलाह पर, बनाई गई नीतियां हैं। पं० नेहरू की सरकार द्वारा, औद्योगिक विकास की नीति के फलस्वरूप, भारत न तो जापान के समान औद्योगिक दृष्टि से सम्पन्न हुआ और न खाद्यान्न उत्पादन के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता के लक्ष्य को प्राप्त कर सका। यही नहीं, हमारा देश कर्ज के बोझ से लद गया। यहां विचार करने की बात यह है कि सार्वजनिक क्षेत्र में भारी उद्योगों के विकास की नीति और कुछ मौजूदा निजी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के कारण, भारत पर, विदेशी कर्ज का बोझ नावाजिब ढंग में बढ़ गया। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि भारत को राजनीतिक मत्ता सौंपते समय, अंग्रेज, रिजर्व बैंक में 1,180 करोड़ रुपये के सिक्के, सोना तथा अन्य कीमती वस्तुएं छोड़कर गए थे। उस समय 1,733 करोड़ रुपये इंग्लैंड को देने थे और युद्ध-पूर्व ऋण के भुगतान में 425 करोड़ रुपये की धनराशि और मिलनी थी। इस प्रकार कुल मिलाकर 3,453 करोड़ रुपये की धनराशि हमारे कोश में मौजूद थी। 1951 तक जमा रकम को खर्च करके भारत 32 करोड़ रुपये का कर्जदार था। कर्ज की यह रकम लगातार बढ़ती गयी।

यह सुनिश्चित बात है कि पं० नेहरू के नेतृत्व में अपनाई गयी आर्थिक तथा औद्योगिक नीतियों से भारत ने, अर्थ तथा उद्योग के क्षेत्रों में, कोई उल्लेखनीय तरक्की नहीं की, बल्कि एक ओर तो देश कर्जदार हुआ और दूसरी ओर देश की पूंजी कुछ लोगों के हाथों में मिमटने लगी। पं० जवाहरलाल नेहरू ने स्वयं इसका अनुभव किया, स्वयं द्वारा निर्धारित विकास-नीति के खोखलेपन से उनकी देशभक्त आत्मा को अवश्य चोट लगी होगी। यही कारण है कि 11 दिसम्बर 1963 को, आपने लोकसभा में स्वीकार किया "मैं समझता हूँ कि आर्थिक शक्ति का कुछ लोगों के हाथों में केन्द्रित हो जाना, वह चाहे जितने योग्य और अच्छे क्यों न हों, अत्यधिक आपत्तिजनक है और इसे रोका जाना चाहिए।" पं० नेहरू के ये शब्द, एक ओर तो उनके चिंतन की ईमानदारी के प्रतीक हैं और दूसरी ओर नीतियों को व्यावहारिक रूप देने की उनकी असफलता के। इसका यह मतलब नहीं कि पं० नेहरू की नीति अथवा चिन्तन, दिशा पर संदेह किया

जाए। वह सच्चेदिल से, देश के विकास के विषय में सोचने थे, यह दूसरी बात है कि वह अपने चिन्तन को सार्थक दिशा दे पाने में भूल कर गए।

पं० नेहरू के चिन्तन की ईमानदारी इस बात से भी जाहिर होती है कि 8 नवम्बर 1963 को दिल्ली में हुई राष्ट्रीय विकास-परिषद की बैठक का उद्घाटन करते हुए आपने कृषि के मुकाबले में, भारी उद्योगों के विकास की अपनी नीति की भूल को स्वीकार करते हुए कहा था—“किमी अन्य वस्तु की तुलना में कृषि महत्वपूर्ण है, और उसमें कारखाने भी शामिल हैं क्योंकि कृषिउत्पादन ही तमाम आर्थिक प्रगति की गति को निर्धारित करता है कृषि ही प्रगति का आधार तैयार करती है। यदि हम कृषि में असफल होते हैं तो हम उद्योगों में भी सफल नहीं होंगे। मैं इस बात पर इसलिए जोर दे रहा हूँ क्योंकि वास्तव में इसके कि वृद्धि पर बल दिया जाता है, मुझे लगता है कृषि को प्रायः रोजमर्रा की बात समझ लिया जाता है जिसके लिए कार्यकुशल मंत्री की जरूरत नहीं है, कृषि उद्योग की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है, इसका सीधा-सादा कारण यह है कि उद्योग कृषि पर निर्भर होते हैं “उद्योग निश्चय ही बहुत महत्वपूर्ण है लेकिन उनकी प्रगति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि कृषि ठोस, स्थायी और प्रगतिशील न हो।”

ये शब्द, पं० नेहरू की, बदली हुई मानसिक स्थिति के प्रमाण हैं। दुर्भाग्य यह है कि अपनी बदली हुई, कृषि-प्रधान नीति को, व्यावहारिक रूप देने के लिए, वह अधिक दिन तक जीवित नहीं रहे। 27 मई 1964 को क्रूर काल ने उनको हमसे छीन लिया। उनके बाद, इका सरकार और इनकी बेटी, श्रीमती इंदिरा गांधी जो देश की प्रधान मंत्री तथा कांग्रेस की अध्यक्ष थीं, का दायित्व था कि अपने स्वर्गीय पिता के अधूरे कार्य को पूरा करतीं। जिसके पूरा होने पर देश खाद्यान्नों के उत्पादन में अत्मनिर्भर बनता, कुछ फालतू खाद्यान्न के निर्यात से विदेशी कर्ज में छुटकारा पाता, भारी उद्योगों के घाटे जो लगभग अट्ठारह करोड़ रुपये का हो गया है, से छोटे-छोटे उद्योगों के विकास द्वारा मुक्ति पाना, लघु उद्योगों के विकास से बेरोजगारी की समस्या को हल करता और देश की अर्थ-व्यवस्था ठीक करता, किन्तु श्रीमती गांधी ने इतिहास और अतीत से कुछ सीखना नहीं चाहा, यहां तक कि उन्होंने अपने पूज्य पिता के ममान अपनी गलतियों को स्वीकार करने का माहस भी कभी नहीं दिखाया अथवा वह समझती रहीं कि उन्होंने कोई गलती नहीं की और उनके नेतृत्व में देश निरन्तर तरक्की कर रह रहा है जो कुछ भी हो, नथ्य और आंकड़े इसके विपरीत हैं और इनसे कांग्रेसी-राज्य में हुई भारत की तरक्की के संकेत नहीं मिलते।

एकप्रेम मैगनीज, 10 मई 1984 में प्रकाशित तथ्यों के आधार पर, सन् 1971 की जनगणना के अनुसार, अकेले बम्बई में, लगभग 31,133 परिवारों के पास सिर छुपाने के लिए झोंपड़ी तक नहीं है। 1977 के अंत तक यह संख्या 50,000 हो गई है और 1984 तक 100,000 हो जाएगी। इसके अलावा 77.4 प्रतिशत परिवार फ्लैट बम्बई में एक कमरे के मकान में रहते हैं और इससे भी भयंकर स्थिति यह है कि लगभग 88.349 परिवार शिफ्ट सिस्टम में यानी कुछ समय तक एक परिवार और कुछ समय बाद दूसरा परिवार उसी कमरे में रहता है। अन् 1976 में सरकार ने बम्बई की गंदी बस्तियों का सर्वे किया था, इसके अनुसार बम्बई महानगर में 1,991 गंदी बस्तियां थीं, जिनमें 5,76,900 परिवार रहते थे। यह संख्या 1982 में लगभग सात लाख और 1984 में 7.5 लाख से अधिक हो गई होगी। सर्वे रिपोर्ट के अनुसार प्रत्येक गंदी बस्ती अपराध और अपराधियों के लिए मल-कुण्ड बन गई है, इस स्थिति से, क्या विश्वास किया जा सकता है कि कांग्रेसी-राज्य भारत को समाजवाद की ओर ले गया है ?

जिस देश के बम्बई शहर में एक ओर आलीशान महल खड़े हों, उनमें रहने वाले लोग थोड़े हों और दूसरी ओर हजारों परिवार सड़कों के किनारे जिन्दगी गुजारते हों, जिस देश में पांच सितारा होटलों में एक रात रहने के लिए हजारों रुपये खर्च करने वाले पैसे वाले लोग हों, उसी देश में 120,93 मिलियन (लगभग 12 करोड़ 90 लाख) लोग देहाती क्षेत्र में और 14.83 मिलियन) लगभग एक करोड़ 48 लाख शहरी क्षेत्र में अपने ऊपर लगभग एक रुपया से अधिक खर्च करने की स्थिति में न हों, उस देश के विकास को समाजवादी विकास के साथ जोड़ना कहां तक सही है ? देश की इस गरीबी के लिए, निश्चित ही कांग्रेस-नेतृत्व उत्तरदायी है, जिसकी कथनी और करनी में अन्तर है और योजनाएं अनेक विरोधाभासों के कारण विडम्बना बन गई हैं। दुर्भाग्य है कि इसकी जुम्मेदारी भी इंकानेतृत्व विरोधी दलों पर डालने की स्थिति में नहीं है।

कांग्रेस के लम्बे शासन के दौरान, एक ओर तो, देश का आम आदमी गरीब हुआ है, उसकी क्रय-शक्ति घटी है, देश में शिक्षित और अशिक्षित वर्ग में बेरोजगारी फैली है, रोजमर्रा प्रयोग आने वाली चीजों की कीमतें तिन्तुनी बढ़ गई हैं; दूसरी ओर चंद लोगों की पत्नी कई गुना अधिक हो गई है। यह सब इस लिए हुआ कि पं० नेहरू ने देश के आर्थिक विकास का गांधीवाद विरोधी रास्ता चुना। उनको जब अपनी भूल का एहसास हुआ, तो भूल-सुधार का समय उनके पास न था। उनके उत्तराधिकारी और उनकी मुयोग्य पुत्री के पास लम्बा समय था कि अपने पिता के अधूरे स्वप्न को पूरा करती, किन्तु उनके सामने पिताजी के अधूरे राष्ट्रीय एवं मानवीय

स्वप्नों के पूरा करने की अपेक्षा, अपने सपनों को पूरा करने की चिन्ता हमेशा रही थी। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में ख्याति और सत्ता पर नर्दव अधिकार उनके दो महान् स्वप्न रहे थे। इनकी पूर्ति की योजना में देश और समाज की आर्थिक उन्नति का सवाल हमेशा पीछे पड़ता गया था। मेरी धारणा है कि भारत की वर्तमान दुर्दशा, पतन राजनीतिक विखराव, और गरीबी के लिए केवल नेहरू परिवार सर्वाधिक उत्तरदायी है।

गांधीजी देश की आर्थिक उन्नति का रास्ता कुटीर उद्योगों के विकास, देश की मानव शक्ति के प्रयोग, यानी देश के अरबों हाथों के इस्तेमाल, छोटी इकाइयों द्वारा विकेंद्रित उत्पादन और ग्रामों के उद्योगों को बढ़ाने वाले औद्योगीकरण में देखते थे। इसके विपरीत, पं० नेहरू ने भारी उद्योगों के विकास की योजनाएं बनाईं। उन्होंने अमेरिका तथा रूस के आर्थिक विकास के इतिहास को समझे बिना ही, विदेशी सलाहकारों की सलाहें मान लीं। जब रूसी तथा चीनी नेताओं ने, औद्योगीकरण से पहले कृषि-विकास के महत्व पर जोर दिया, तो उनको अपना मत बदलने की आवश्यकता महसूस हुई, किन्तु तब तक देश, आर्थिक विकास के गलत रास्ते पर इतना आगे बढ़ गया था कि उसका लौटाया जाना अपने स्वार्थों में डूबे दिमागों और ईमानदार प्रशासन के क्षेत्र में कमजोर हाथों द्वारा सम्भव नहीं हो सकता था।

“गायनियर” (लखनऊ) 24 जनवरी 1961 के आधार पर कहा जा सकता कि निकेता खुश्चेव ने, पार्टी की सेन्ट्रल मीटिंग में स्टील आदि उद्योगों के उत्पादन के मुकाबले में, ज्यादा अन्न पैदा करने की नीति का समर्थन किया और माओ ने 1958 में कृषि को प्राथमिकता देने की बात कही थी, जिसका उल्लेख अर्थशास्त्र के नाबल पुरस्कार विजेता वैमली लियोनटीफ ने, चीन-यात्रा के बाद, “एट्लान्टिक मंथली” के लेख में किया है।

महात्मा गांधी का कथन है—“मिली और शहरों की संख्या में वृद्धि वस्तुतः भारत की समृद्धि में योगदान न करेंगी।” हम देखते हैं कि गांधीजी, निकेता खुश्चेव और माओ देश की समृद्धि का रास्ता खेती की उन्नति में देखते हैं। किन्तु गांधीजी के राजनीतिक उत्तराधिकारी प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने देश की उन्नति भारी उद्योगों के विकास में देखी। उनकी इस गलत नीति के कारण देश को एक ओर तो कर्जदार होना पड़ा है और दूसरी ओर अपनी जावदी का पेट भरने के लिए दूसरे देशों से मंगाए गए अन्न पर निर्भर रहना पड़ा। डा० बलजीत सिंह (लखनऊ विश्व-विद्यालय) ने अपनी पुस्तक “उत्तर प्रदेश के अन्न-जिला आय और आर्थिक पक्ष” 1974 में एक खास नतीजा यह निकला है कि लखनऊ तथा देहरादून जिलों के उद्योगों की अपेक्षा मेरठ जिला कृषि-विकास के बल पर निर्यात-उद्योगों को बढ़ाने में अधिक

समर्थ हुआ है। डा० एन्मेर पैडेल भी “पापूलेशन आफ द लृज” 1951 पूष्ठ, 34 पर उद्योगों की अपेक्षा अधिक खाद्यान्न उत्पादन की वकालत करता है, लेकिन दुःख इस बात का है कि दुनिया के राजनीतिक नेताओं तथा अर्थशास्त्रियों के सुझावों से न तो नेहरू जी ने कृषि सीखने की दिशा में प्रयास किया और न उनके उत्तराधिकारी ही कर रहे हैं। यही कारण है कि भारत में आज भी कृषि उतनी उपेक्षित, अविकसित और गैर-मुनाफे का धंधा बनी हुई है जितनी कि अंग्रेजों के समय बनी हुई थी।

एक देश की अच्छी अर्थ-व्यवस्था के आमतौर पर चार उद्देश्य होते हैं—पहला ज्यादा से ज्यादा धन इकट्ठा करके गरीबी दूर करना, 2. देश में मौजूदा बेरोजगारी को दूर करने के उद्देश्य से रोजगार के साधन मुहिया करना, 3. नागरिकों की आम दनी के फर्क को कम करके पूंजी का उचित वितरण करना और 4. व्यक्तिगत सुरक्षा की गारंटी तथा लोकतन्त्र को प्रोत्साहन देना। संसार का प्रायः प्रत्येक अर्थशास्त्री, भारत के कांग्रेसी-नेताओं के विपरीत, यह मानता है कि देश की आर्थिक व्यवस्था की मजबूती तथा ब्रह्मवृद्धि की जड़ें कृषि की उन्नति पर निर्भर करती हैं। खेद है कि लोकतन्त्र और प्रगतिशीलता की दुहाई देने वाली कांग्रेसी सरकार ने मच्छाई को न समझ कर भारत की जनता के साथ घोर अन्याय किया है और एक सीमा तक देश का बहुत अधिक अहित भी।

सरकारी खेती : एक निरर्थक अभ्यास

हमारे देश के अनेक राजनीतिक पुरुषों, विचारकों, अर्थशास्त्रियों और कांग्रेस-नेतृत्व के कर्णधार पं० जवाहरलाल नेहरू तक ने मार्क्स के सहकारी खेती संबन्धी विचार को मही संदर्भों में समझे बिना, भारत में सहकारी खेती की बात करनी प्रारम्भ की थी। पं० नेहरू की इच्छा को जानकार दूसरी पंचवर्षीय योजना में कहा गया— “दूसरी पंचवर्षीय योजना की अवधि में मुख्य कार्य ऐसे सभी आवश्यक कदम उठाना होगा ताकि सहकारी खेती के विकास के लिए ठोस भूमि के टुकड़ों को एकत्र करना और संयुक्त प्रबन्ध करना निहित है। फिर भी विकास की इस अवस्था में काफी शिथिलता इस प्रकार आवश्यक है कि भूमि के अलग-अलग टुकड़ों को चकवन्दी से एकत्र किया जाय और उनमें सहकारी यूनिटों द्वारा खेती की जाए।” इसका मतलब था कि पहले भूमि की चकवन्दी कराई जाय और उन चकों के मालिक किसानों को सहकारी खेती करने के लिए विवश किया जाय।

सहकारी खेती के समर्थकों ने, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जनवरी 1959 के नागपुर अधिवेशन में एक प्रस्ताव पेश किया कि देश भर में सहकारी खेती शुरू की

जाय। पं० नेहरू की नीति का विरोध, भले ही वह देश के हित में न हो, करने का साहस किसी कांग्रेसी कार्यकर्ता एवं नेता में नहीं था। ऐसा करने के अनेक भयंकर परिणाम हो सकते थे। मैंने अपने राजनीतिक भविष्य के अंधकार की चिन्ता न करते हुए, इस प्रस्ताव का विरोध किया था। मैं, उस समय उत्तर-प्रदेश सरकार में राजस्व विभाग का मंत्री था। मैं, आज भी मानता हूँ कि देश में सहकारी खेती लागू करने वाला प्रस्ताव देश के लिए हितकर नहीं था।

देश के तथाकथित प्रगतिशील विचारकों और मार्क्सवादी चिंतकों ने मुझे प्रगतिशीलता विरोधी और प्रतिक्रियावादी तक कहा। लेकिन आज सिद्ध हो गया है कि मेरा मत देश के हित में था और मेरे तथाकथित प्रगतिशील आलोचकों का देश के अहित में; मैं, कृषि-विकास के माध्यम से देश के आर्थिक-उत्कर्ष की बात सोच रहा था और मेरे आलोचक राष्ट्रीय-हित की उपेक्षा करके केवल मार्क्सवाद का ढोल पीट रहे थे और वह भी गलत ताल तथा स्वर में। इस संबंध में आज, मेरा पहला तर्क तो यह है कि यदि सहकारी खेती देश के लिए उपयोगी थी तो स्वयं पं० नेहरू ने, नागपुर सत्र के 15 माह से कम समय में ही, सहकारी खेती जैसे सम्भाव्य प्रस्ताव को छोड़ क्यों दिया? 27 मार्च 1960 को अखिल भारतीय वाणिज्य और व्यापार चैम्बर के कलकत्ता अधिवेशन में नेहरू जी द्वारा अभिव्यक्त विचार मेरे तर्क का समर्थन करते हैं। हिन्दुस्तान टाइम्स ने, दूसरे ही दिन, पंडित जी के वक्तव्य पर टिप्पणी करते हुए कहा था—“श्री नेहरू ने अभी हाल ही में संयुक्त कृषि के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए हैं, वे इस विषय पर उनके पूर्व विचारों से भिन्न हैं।”

नेहरू जी ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था कि सहकारी खेती का प्रश्न एक विवादास्पद विषय है। इसको एक आदर्श के रूप में भले ही मान लिया जाय, पर इसका कार्यान्वयन कई परिस्थितियों पर आधारित है, जिनमें एक जनता की सहमति है।

इस वक्तव्य द्वारा, नेहरू जी ने, पुनः अपनी भूल को स्वीकार करके एक सही चिंतन की दिशा को अंगीकार कर लिया, किन्तु तथाकथित प्रगतिशील मार्क्सवादी, मार्क्स के सहकारी खेती संबंधी विचारों के संदर्भों को ममझे विना, मुझे घोर प्रतिक्रियावादी कहकर कोसते रहे हैं और आज भी कभी-कभी उनकी आवाज सुनाई पड़ने लगती है।

यहां आवश्यक है कि उनके चिंतन के औचित्य तथा अनौचित्य को समझ लिया जाय और यह निश्चय कर लिया जाय कि देश-हित के करीब कौन था, मैं अथवा मेरे आलोचक ?

मार्क्स की दृष्टि में, सामान्यतः जनकल्याण के लिए बड़े पैमाने पर सामूहिक उत्पादन विकास की पहली शर्त थी। यह शर्त उद्योग के क्षेत्र में आवश्यक अनुभव की गई। सामूहिक विकास की रूढ़ि में, उद्योगों पर, चंद लोगों के पूंजीगत अधिकार का भय नहीं रहता, अतः सामूहिक उत्पादन का सिद्धांत उद्योग के क्षेत्र में तो राष्ट्र तथा जन के लिए कल्याणकारी ठहरता है। मार्क्स का यह निष्कर्ष, योरोप में होने वाले पूंजीवादी औद्योगिक विकास तथा मजदूरों के शोषण की स्थिति में, उपयोगी था। जहां तक खेती और किसान का प्रश्न है, मार्क्स ने अनुभव किया था कि छोटी-छोटी जोतों वाले किसान, यदि किसान ही बने रहे तो वे मिट जायेंगे। क्योंकि उसकी दृष्टि में न तो किसान और न उसकी कार्य-पद्धति समय के अनुरूप थी और समाज का विकास उन दोनों के निगलने के लिए तैयारी कर रहा था। उनका यह अनुभव मूलतः आयरलैण्ड के किसानों पर आधारित था। अस्तु, उन्होंने असंख्य मजदूरों द्वारा वैज्ञानिक तरीके से खेती करने की बात कह दी। इनके पीछे केवल विचार यह था कि भूमि को कुछ भू-स्वामियों के अधिकार में केन्द्रित न होने दिया जाए और न भूमि को छोटी-छोटी अलाभकारी जोतों में बंटने दिया जाए। मार्क्स का यह विचार नितांत वैज्ञानिक, उपयोगी और तर्कसंगत था। मैं, अनेक स्थानों पर यह बात कह चुका हूँ कि भारत में एक ओर तो भू-स्वामियों द्वारा बड़े-बड़े फार्म स्थापित किए जा रहे हैं और दूसरी ओर सरकार केवल प्रचार के लिए अलाभकारी छोटे-छोटे भूमिखंड भूमिहीन लोगों को बांट रही है। ये दोनों स्थितियां राष्ट्र एवं समाज के लिए उसी प्रकार अहितकर हैं, जैसे सामूहिक खेती की योजना अहितकर थी।

हमारा नेतृत्व अंध-नुकरण करता रहा है। उसने दूसरे देशों के अनुभव एवं इतिहास से बहुत कम शिक्षा ली है। डेविड मित्रेनी ने 1895 ई०की जर्मन जनसंख्या की गणना के आधार पर सिद्ध किया है कि किसान मिट नहीं रहा है और वहां 2 से 20 हेक्टेयर की जोतों 1.26 प्रतिशत बढ़ गई हैं। 1907 की जनगणना के आधार पर वह बताता है कि पूंजी पर आधारित लाभों के बावजूद शासन ने बड़ी-बड़ी भू-सम्पत्तियां कम कर दीं। अन्य महाद्वीपों तथा हालैण्ड आदि में भी ऐसा ही हुआ। स्वयं रूस में भी सहकारी खेती का भविष्य शीघ्र ही अलाभकारी तथा अनुपयोगी बन गया था। इस मन्वन्ध में स्टालिन की मान्यता का आगे जिक्र किया गया है।

आश्चर्य की बात यह है कि विदेशों के उस अनुभव को अनदेखा करके भारत

में सहकारी खेती की वकालत की गई, उस पर दिमाग एवं धन का व्यय किया गया और मेरे जैसे लोगों ने जब देश के लिए खेती की नितांत सामयिक तथा लाभकारी योजना सामने रखी, तो उसका विरोध किया गया। अब, आप ही निर्णय कीजिए कि क्या मेरे विरोधी देश के हितैषी थे और उनकी सहकारी खेती की बात क्या वास्तव में प्रगतिशील थी ?

सामूहिक अथवा सहकारी खेती के विषय में एक बात जाननी आवश्यक है। भिन्न रुचि तथा प्रकृति के लोग, एक स्थान पर इकट्ठे होकर, तब तक शक्ति नहीं बन पाते, जब तक कि सामूहिक आदर्शों के साथ प्रतिबद्ध नहीं हो जाते, अतः सामूहिक खेती में पहले सहकारी आदर्शों से व्यक्ति को परिचालित करना आवश्यक है, दूसरे एक इकाई के रूप में काम करने पर आदमी की दिलचस्पी, हर्ष-उल्लास, प्रलोभन तथा प्रेरणा मिट जाती है, जिसके अभाव में अलगाववादी चेतना जन्म ले लेती है, इन्हीं कारणों से भारत तथा इजरायल के कई सहकारी फार्म खत्म हो चुके हैं। नेहरू स्वयं अपनी भूल को स्वीकार कर चुके थे, फिर भी साम्यवादी प्रभाव के परिणामस्वरूप जब तक सहकारी खेती की बात उठती रही, फलतः देश का समय बर्बाद होता रहा। केरल की सी० पी० आई० सरकार द्वारा शुरू किया गया सहकारी फार्म अपने जीवन के सातवें वर्ष में ही लड़खड़ा गया और इलीथैंड के फार्म को 246 कामगारों में बांट दिया गया। यूजीन ह्योनस अपनी "वर्क्स पैराडाइज लोस्ट" में रूसी सामूहिक कृषि के दिवालियेपन का वर्णन कर चुका है। स्टालिन ने चर्चिल से अपनी वार्ता के बीच स्वीकार किया था कि सहकारी खेती के संदर्भ में, द्वितीय विश्व युद्ध की अपेक्षा, अधिक रूसी किसानों की जानें गईं। मजदूरों की तरह किसानों को भी गारंटी देने, न्यूनतम मजदूरी देने और आधारभूत सामूहिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए सातवें दशक में बजट में 17.6 की वृद्धि करनी पड़ी। यह रकम बढ़ती रही, पर देश को विशेष उपलब्धि नहीं हुई। यूक्रेन का किसान सामूहिक फार्म पर वर्ष में 180 दिन और जार्जिया का 135 दिन काम करता है, बाकी दिन अपने निजी प्लाटों पर। मास्को पत्रिका "प्राब्लम्स ऑफ इकानामिक्स" में कहा गया कि 1975 में उपलब्ध ट्रैक्टरों को बेकार खड़े रखने की वजाय काम पर लगाया गया होता तो देश को प्रतिवर्ष 200 लाख टन अधिक अनाज मिलता।

"रीडर्स डाइजेक्ट" जून 1973 में एडवर्ड हग्न ने रूसी सामूहिक फार्मों पर अन्न, साग-सब्जी तथा यंत्रों की बर्बादी तथा बेकदरी की तस्वीर पेश की है। रूसी तथा चीनी सहकारी फार्मों की प्रति एकड़ पैदावार जापान तथा पश्चिमी राष्ट्रों में निजी खेती की प्रति एकड़ पैदावारी से कम है। एक रूसी किसान औसतन 10 आदमियों के

लिए भोजन कमाता है और अमेरिका का 75 आदमियों के लिए। यही कारण है कि 1972 में मास्को को फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रेलिया और कनाडा से लगभग 912.5 करोड़ रुपये और अमेरिका से 547.5 करोड़ रुपये मूल्य का अनाज मंगाना पड़ा। अप्रैल 1976 तक, रूस ने कृषि वर्ष 1975-76 में अमेरिका से 176 लाख टन आद्यान्न खरीदा और 1981 तक 160 लाख टन गेहूं तथा मक्का खरीदने का करार किया। 9 अगस्त 1980, का "हिन्दुस्तान टाइम्स" दोनों देशों के खाद्यान्न करार सम्बन्धी वात-चीत पर रोशनी डालता।

इससे यह नतीजा निकलता है कि सहकारी फार्म की योजना, किसी व्यक्ति विशेष अथवा दल विशेष अथवा विचारधारा विशेष के अहम् को तो संतुष्ट कर सकती है, किन्तु देश की खाद्यान्न समस्या का हल नहीं निकाल सकती। जब रूस जैसे प्रतिष्ठित साम्यवादी देश में सहकारी खेती की योजना सफल नहीं हुई, तो भारत में सफल कैसे हो जाती? रूस में असफल हुई सहकारी खेती के उदाहरण से एक नतीजा यह निकलता है कि पं० नेहरू और उनके तथाकथित प्रगतिशील समर्थकों द्वारा, सहकारी खेती के विकाम की दिशा में, जितना चिंतन तथा आयोजन किया गया था, वह एक राष्ट्रीय अपव्यय मात्र था।

कृषि और उद्योग की प्रकृति तथा स्वभाव में अन्तर

कृषि और उद्योग की प्रकृति में जमीन और आसमान का अन्तर है। उद्योग की सफलता प्रति व्यक्ति उत्पादन की अधिकता पर निर्भर होती है और कृषि की प्रति एकड़, अर्थात् कारखाने में देखा यह जाता है कि प्रति व्यक्ति उत्पादन अधिक हो, किन्तु खेती में प्रति व्यक्ति उत्पादन की अधिक मात्रा न देखकर प्रति एकड़ उत्पादन की अधिकता देखी जाती है (डब्ल्यू० जे० इस्पिलमैन, "हासमान प्रतिफल नियम, पृष्ठ 43) मेरी बात का समर्थन करता है। हमारे देश में, भूमि एक सीमित कारक है, अतः हमें कृषि को उद्योग न मानकर, उसमें प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ाने का लक्ष्य रखना चाहिए। यह बात समझने की है कि बड़ी-बड़ी मशीनों तथा बड़े फार्मों पर छोटे-छोटे यंत्रों तथा छोटे-छोटे फार्मों की समता में अधिक उत्पादन नहीं होता, यदि ऐसा होता तो जापान की अपेक्षा अमेरिका तथा रूस में अधिक उत्पादन होना चाहिए था, किन्तु वात बिल्कुल इसकी उल्टी है। जापान में खेती करने वाले परिवार के पास औसत कृषि योग्य जोत, तीन एकड़ से भी कम है, किन्तु उसकी प्रति यूनिट का उत्पादन इंग्लैण्ड की अपेक्षा चार गुना, अमेरिका की अपेक्षा दस गुना और रूस के मुकाबले में सोलह गुना ज्यादा है।

“जान लासिंग बक” द्वारा “लैण्ड यूटीलाइजेशन इन चाइना” नामक पुस्तक में किये गये विश्लेषण से पता लगता है कि अगर एक आदमी के पास 2.6 एकड़ से कम जमीन है तो प्रति एकड़ उत्पादन कम होगा, इसलिए मेरा मुझाव है कि जमीन को टुकड़े होने से तो बचाया जाए, किन्तु जमीन के साथ आदमी के व्यक्तिगत लगाव को समाप्त न होने दिया जाए। यदि 100 एकड़ के फार्म को 2.5 एकड़ वाले चालीस फार्मों में बांट दिया जाए तो राष्ट्रीयकृत व्यवस्था की अपेक्षा पूंजी की लागत कम होगी और पैदावार अधिक।

पैदावार की अधिकता के अलावा, छोटे फार्म के पक्ष में, एक दूसरी दलील भी है और वह है, देश के लाखों बेरोजगारों को काम पर लगाना, कृषि की बढ़ी हुई आमदनी से बहुतों को फायदा मिलता, कृषितर घंधों का अधिक विकसित होना, इन घंधों में माल तैयार करने के लिए अधिक कामगारों का लगना, जोतने, गाहने, बोने तथा सिंचाई आदि की मशीनें-बनाने के कार्यों पर ज्यादा लोगों का लगना और इस तरह बेरोजगारों की संख्या घटना। निष्कर्ष यह है कि बड़ी-बड़ी मशीनों से, बड़े-बड़े फार्मों पर खेती करने की बजाय, छोटे-छोटे फार्मों पर, छोटी-छोटी मशीनों से खेती करना, सब प्रकार से लाभदायक है। महात्मा गांधी की बात हमारे मत का समर्थन करती है—“यंत्रिकरण अच्छा है जब किये जाने वाले कार्य को पूरा करने के लिए मजदूर कम हों।”

[मानव वनाम मशीन, “हरिजन”, 16 नवम्बर 1934, पृ० 316]

मैं, किसानों द्वारा मशीनों के प्रयोग का विरोधी नहीं हूँ। लेकिन उन्हीं छोटी-छोटी मशीनों के इस्तेमाल का समर्थन करता हूँ, जो किसान को पैदावार बढ़ाने में मदद देती हैं, उसकी थकान तथा मेहनत को कम करती हैं, पशुओं पर उसकी अधिक निर्भरता को घटाती हैं, प्रकृति के प्रकोप से उसकी पैदावार को बचाने में सहायता देती हैं, उसकी स्वतंत्रता नहीं छीनती तथा उसके अपने अस्तित्व के लिए खतरा नहीं बनती। ऐसी मशीन का प्रयोग उसके लिए अधिक फायदेमंद होगा, जो उसके आदेश पर चलती हो, उनके चलाने के लिए किसी और से आदेश लेने की जरूरत न पड़ती हो। मेरी समझ में किसान का स्वामित्व, यानी अपनी जमीन पर उसका अधिकार, लोकतन्त्र के बड़े बचाव का साधन है।

हमारे लोकतन्त्र के वर्तमान ढाँचे में, अर्थ-व्यवस्था की बहूबूदगी की दृष्टि से छोटे-छोटे फार्मों का होना ही ज्यादा फायदे का है। हमारे देश का, यह दुःखद पहलू है कि यहां जमीन की कमी है और जमीन पर निर्भर करने वालों की संख्या अधिक है, यदि इमको काम देने के लिए लघु उद्योगों का विकास नहीं किया जाता तो भविष्य में यह संख्या अधिक बढ़ सकती है। सन् 1970-71 की, भारत की कृषि-जनसंख्या की

गणना के आधार पर, उन सीमान्त जोतों को छोड़कर जो कुल जोतों का 50-60 प्रतिशत है और उनमें से प्रत्येक जोत का रकबा एक हेक्टेयर से भी कम है, शेष 3,48,11,000 जोतें रह जाती हैं और उनको छोटी जोतों (1.0-2.0 हेक्टेयर), के वर्ग में गिना जाता है। अर्द्ध-माध्यमिक (2.0-4.0 हेक्टेयर), माध्यमिक (4.00-10.0 हेक्टेयर) और बड़ी (10.0 तथा इससे अधिक हेक्टेयर) जोतों ने कुल 1,47,579,000 हेक्टेयर क्षेत्रफल अर्थात् 4.24 हेक्टेयर रकबा या औसतन 10.0 एकड़ रकबा रखा है। इसलिए वर्तमान दशा में, अगर हम सघन खेती करना भी चाहें तो कर नहीं सकते। ऐसा करना आत्मघात के समान होगा। अल्प जनसंख्या वाले देश ही इस ओर सोच सकते हैं। भारत जैसे आवादी वाले देशों को छोटे-छोटे फार्मों पर खेती करना ही लाभदायक हो सकता है। सामूहिक या सहकारी खेती के पक्षपाती, कांग्रेसी राजनीतिज्ञ देश की अर्थव्यवस्था को एक बड़ी ठोकर देने के लाद, अपनी गलती को सझने लगे हैं। काफ़ ! यदि उन्होंने कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन के समय, यह समझ लिया होता, जब स्वर्गीय नेहरू और उनकी कांग्रेस सहकारी खेती का राग अलाप रही थी और मैं अकेला उसका विरोध कर रहा था, तो देश को गरीबी, बेरोजगारी, कुपोषण, महामारी और विदेशी ऋण की भयंकरता के दिन न देखने पड़ते और आजादी की लड़ाई में परिवार, दौलत और शारीरिक शक्ति की आहुति देने वाले स्वतन्त्रता सेनानियों को भी आजादी का आनन्द मिल गया होगा। उनको यह न कहना पड़ता कि क्या हमने भाई-भतीजावाद, ब्रैडमानी, बेकारी और भ्रष्टाचार के लिए ही विदेशी शासन की क्रूरताओं को सहन किया था ? उनको आजादी के तीन दशक बाद भी पश्चाताप तथा आत्मज्ञानि के ताप से न जलना पड़ता।

भारत में भूमि-सुधार एक विडम्बना

डब्ल्यू०ए० लैंडजिन्स्की भूमि-सुधार और कृषि के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान् हैं। आपने 'टेन्चुरियल कंडीशन्स इन द पैकेज डिस्ट्रिक्ट्स 1963' नामक रिपोर्ट योजना-आयोग को पेश करते हुए कहा था "अभी तक उत्तर प्रदेश को छोड़कर देश के अन्य भागों में किसानों को अपने हल से जोतने वाली जमीन का मालिक नहीं बनाया गया।"¹ लैंडजिन्स्की तथा बम्बई एवं हैदराबाद में बने भूमि-सुधार के कानूनों

1. यहाँ विशेषतः उल्लेखनीय बात यह है कि उत्तर प्रदेश के क्रांतिकारी भूमि सुधार कानून का प्रायः प्रत्येक शब्द, उसका विचार तथा उसकी परिकल्पना लेखक की है, इस कानून की रचना के दौरान मुझे विधान-सभा के भीतर तथा बाहर अपने साथियों तथा विरोधियों का प्रतिरोध भी सहन करना पड़ा था। पर आज बड़े-बड़े विशेषज्ञ यह मान चुके हैं कि वह एक क्रांतिकारी कानून था।

पर लिखी गयी क्रमशः बी०एम० दांडेकर और सी० जे० खुदानदार एवं एम० एन० खुसरू की रिपोर्ट्स से जाहिर होता है कि इन कानूनों से देश के किसानों को कोई लाभ नहीं हुआ। जोतने वाले किसानोंको, जमीन का मालिक बनाने वाले कानून के अभाव में, अनेक स्थानों पर जमींदारों ने खेतों से बेदखल कर दिया और कई राज्यों में तो मंत्रियों तक ने, जो पहले बड़ी जोत के मालिक नहीं थे, बड़ी हिकमतों से बड़ी-बड़ी जोतें प्राप्त कर लीं। भारत सरकार ने, राज्य सरकारों को, ऐसे कानून बनाने की इजाजत तक दे दी जिससे जमींदार 30 से 60 एकड़ तक की भूमि को अपनी जोत के भीतर ले सके। केवल उत्तर प्रदेश ने, ऐसा करने से हाथ खींच लिया था। अकेले महाराष्ट्र में 1948 के कृषि-सुधार कानून के बावजूद, भूस्वामियों ने इस मौके का लाभ उठाकर 17 लाख एकड़ भूमि, किसानों से ही छीनकर, अपने काबू में कर ली। सरकार का यह कदम यानी भूमि-सुधार की दिशा में किया गया श्रम क्या गरीब किसानों के हितों की रक्षा करता है, अथवा चुनाव के समय पैसा तथा लाठी से, कांग्रेस सरकार की सहायता करने वाले जमींदारों की सेना इकट्ठा करने में सहायता पहुंचाता है? देश के बुद्धि-जीवियों को इस दिशा में सोचने की जरूरत है ?

हरित क्रांति की योजना अधिक उत्पादन तथा कृषि-उत्कर्ष की दृष्टि से की गई थी, किन्तु इसका प्रभाव भी उल्टा ही निकला। श्री वाल्फ-लैंडजिन्स्की द्वारा जुलाई, अगस्त 1969 में उत्तरी विहार के दौरे के बाद लिखी रिपोर्ट से मालूम होता है कि यहां भूमि-सुधार कानूनों की उपेक्षा की गई, कृषि-मजदूरों और छोटे किसानों की आमदनी बड़े किसानों की समता में बहुत कम है, और वे नरक की ओर सरलता के साथ बढ़ रहे हैं। मेरा अपना विचार है कि भूमि-सुधार कानूनों के बारे में सरकार की घोषित नीति और कांग्रेस के नेतृत्व में बहुत फर्क है। राष्ट्रीय प्रतिदर्ष सर्वेक्षण 1961-62 के 17 वीं बार के अध्ययन से मिले आंकड़ों के साथ, अतिरिक्त भारतीय कृषि जनगणना 1970-71 से की जाय तो यह मालूम हो जाएगा कि भूमि-वितरण के तरीकों से छोटे वर्ग के लोगों की हानि और ऊंचे वर्ग के किसानों को लाभ पहुंचा है (विस्तार के लिए मेरी पुस्तक "इंकानामिक नाइटमेयर ऑफ इंडिया" का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित तालिका 42, 43, 44 व 45 देखी जा सकती है)।

राष्ट्रीय प्रतिदर्ष सर्वेक्षण के 17 वें अध्ययन से मालूम होता है कि 1961-62 में कृषि योग्य जोतें 507 थीं, 1970-71 की जनगणना बतलाती है कि ये जोतें 705 हो गईं, यानी जमीन के ज्यादा टुकड़े हो गए। दूसरी ओर 1961-62 में 10 हेक्टेयर

से बड़े फार्मों की संख्या 23 लाख थी। वह 1970-71 में 28 लाख हो गई, यानी एक ओर तो अलाभकारी छोटी-छोटी जाँतें बढ़ती गईं और दूसरी ओर बड़े-बड़े भू-स्वामियों के लाभकारी फार्म बढ़ते गए। भारतीय जनता को, समाजवाद का ढोल पीटने वाले कांग्रेसी शासन के तीन दशकों की, यह देन है अफसोस यह है कि इस सवाल को लेकर प्रगतिशीलता और समाजवाद का नारा लगाने वाली विरोधी पार्टियों ने न तो कोई प्रदर्शन किया और न कोई आन्दोलन। यहां तक कि इस प्रश्न को विधान सभाओं तथा संसद में बहस का मुद्दा भी नहीं बनाया गया।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि सन् 1959 में उत्तर प्रदेश के राजस्व विभाग में किसान-समर्थक नेतृत्व के बदलाव के बाद, यहां भी सीमान्त तथा छोटे किसानों को चकबन्दी के समय जोतों से बेदखल कर दिया गया। कांग्रेस सरकार की गलत नीतियों और सिद्धान्त तथा व्यवहार में दोगलेपन के कारण, देश में कृषि-मजदूरों की संख्या बढ़ती गई। यह संख्या उत्तर-प्रदेश में 1977-78 में 350 लाख हो गई थी।

उत्तर-प्रदेश में, मेरे द्वारा बनाये गए जमींदारी उन्मूलन कातून में, विश्व बैंक रिपोर्ट किमी खामी का जिक्र नहीं करती। इस रिपोर्ट में चार प्रकार के कदम उठाने का सुझाव भी दिया गया है, जिसमें से तीसरा सुझाव है—जमींदारों को, व्यक्तिगत खेती के लिए, भूमि के वापिस किए जाने के अधिकार का उन्मूलन करना और चौथा है—काश्तकारों द्वारा छोड़ी गयी भूमि को नियमित करना। इस रिपोर्ट में, एक चेतावनी भी दी गई है और वह है—यदि उक्त सुझावों पर ध्यान नहीं दिया गया तो ग्रामीण क्षेत्रों में इतनी निर्धनता का फ़ैलाव हो जाएगा कि उसको दूर किया जाना कठिन हो सकता है। इस चेतावनी की ओर सरकार का ध्यान गया अवश्य है, किन्तु उतना नहीं जितना जाना चाहिए था। इसका एक खास कारण यह है कि हमारे देश में राजनीतिक सत्ता, आमतौर पर उन लोगों के हाथ में रही है जो या तो उच्च जमींदार तथा व्यापारी वर्ग से आए हैं अथवा उच्च शिक्षित वर्ग से। इन लोगों ने वैभव-शाली वातावरण में आँखें खोली हैं, वैभव में रहे और सदैव सम्पन्नता का जीवन व्यतीत किया है। ये लोग बिल्कुल नहीं जानते कि गरबी का दर्द क्या होता है, गरीबों के बच्चों को कितना सहना पड़ता है और ये लोग कितने दुःखी होते हैं ?

मेरी बात का समर्थन, वाल्फ लेंडॉज्स्की द्वारा सातवें दशक में, योजना आयोग को दिए गए सुझावों से होता है, जिनमें कहा गया है—“भारत में धनी और सम्पन्न फार्मों के लोगों के दल केन्द्र और राज्य सरकारों में कांग्रेस पार्टी की आन्तरिक परिषदों में

अपना विशेष महत्व रखते हैं और यह महत्व चुनाव के दिनों में और बढ़ जाता है। "मतदान" बैंक उन्हीं लोगों के नियंत्रण में है। अपने मत के समर्थन के लिए वह बताता है कि 1962-67 में पंजाब-विधान-सभा में 64 सदस्यों में से 45 सदस्य बड़े-बड़े भू-स्वामी थे। हरियाणा में 52 में से 30 और मध्य-प्रदेश में 220 कांग्रेस-विधायकों में 98 विधायक हैं जिनके पास अधिकतम जोत की निर्धारित सीमा से अधिक भूमि है। 1980 में निर्वाचित लोकसभा के 350 कांग्रेस सांसदों में से 80 सांसद राकुजमार अथवा बड़ी-बड़ी सम्पत्तियों के मालिक हैं। विहार में बोध गया मठ से संबंधित महंत श्री शंकराचार्य के पास राज्य के 31 जिलों में से 12 जिलों में बहुत अधिक भूमि है। जिसको सन्यासी, नौकरों, शिकारियों तथा लुटेरों, देवी-देवताओं के नाम दर्ज कर रखा है ताकि वह 1961 के अधिकतम भूमि-अधिनियम से बच जाएं। बिहार-सरकार आज तक, ऐसे भू-स्वामियों की भूमि छीनकर, भूमिहीन लोगों में बांटने में असफल रही है। इसी का परिणाम वहां मार-काट लूटपाट और नक्सलवादी आंदोलन होता है। मेरी बात का प्रमाण "टाइम्स आफ इन्डिया" (12 जनवरी 1981) में छपे एन०एस० सक्सेना के लेख से मिलता है। बिहार ही नहीं, धनी और वैभव-शाली फार्मों का प्रभाव और अस्तित्व आन्ध्र-प्रदेश, तमिलनाडु और पंजाब आदि में भी मिल जाता है। इसका नतीजा यह होता है कि एक ओर तो भूमिहीन लोगों की संख्या बढ़ती जाती है, दूसरी ओर भू-स्वामी वर्ग का खजाना फूलता जाता है, जिसका इस्तेमाल वे राजनीतिक नेताओं तथा सरकारी अधिकारियों को खरीदकर हमारे लोकतन्त्र को खोखला बनाने में करते हैं। साम्प्रदायिक झगड़ों, नक्सलवादी मारकाट और चोरी-डकैती के बीज बोने में इन लोगों का हाथ, एक बहुत बड़ी सीमा तक, होता है। इससे बचने का एक तरीका भूमि का पुनर्वितरण है।

भूमि का पुनर्वितरण

कांग्रेस ने अपने नागपुर अधिवेशन में सहकारी खेती और आवादी अधिवेशन में समाजवादी समाज की स्थापना के पक्ष में निर्णय लिए थे, सहकारी खेती के पक्ष में निर्णय का उद्देश्य साम्यवादी राष्ट्रों का अधानुकरण करना था और दूसरे का उद्देश्य सच्चे लोकतन्त्र अथवा आर्थिक समानता के लिए संघर्ष करती जनता को भुलावे में डालना था और इस प्रकार अन्य राजनीतिक दलों को प्रभावहीन बनाकर राजनीतिक लाभ उठाना था। ये दोनों निश्चय नारे अधिक थे, वास्तविकता कम।

यदि कांग्रेस पार्टी इस लक्ष्य के प्रति गंभीरता के साथ प्रतिवद्ध होती, यदि उमका उद्देश्य देश में सच्चे समाजवाद का लाना होता, यदि वह महात्मा गांधी तथा राष्ट्रीय आंदोलन के अन्य बलिदानी वीरों की भावना का मान करती, उनकी कल्पना के भारत का निर्माण करने की दिशा में प्रतिवद्ध होती तो अपने शासन के तीन दशकों में, इस उद्देश्य को पूरा करने से उसे कौन रोक सकता था? सचचाई यह है कि दुनिया के कई देश ऐसे हैं जिनको राजनीतिक स्वाधीनता भारत के बाद मिली, किन्तु समाजवाद, आत्मनिर्भरता और सम्पन्ता की दृष्टि से वे भारत से बहुत आगे हैं। इसका एक ही कारण है कि उन देशों का राजनीतिक नेतृत्व कर्मठ, निष्ठावान तथा नीचे के तबके से आये व्यक्तियों के हाथ में रहा है। भारत का यह दुर्भाग्य है कि यहां नेतृत्व ऊंचे वर्ग के हाथों में रहा है। और वह पूंजीपतियों तथा बड़े-बड़े जमींदारों से बुरी तरह प्रभावित होता रहा है। इस बात का एक सबूत यह है कि सातवें दशक तक आते-आते इस देश में खेतिहारों की संख्या 51.10 से घटकर 43.34 प्रतिशत तक आ गई। इसका सीधा-सा मतलब यह है कि खेतिहारों से जमीन छीन ली गई और वे खेतों पर मजदूरी करने के लिए मजबूर हो गए। दूसरी ओर 90 हेक्टेयर से अधिक रकबा वाले फार्म 1961-62 में 23 लाख थे, वे 1970-71 में 28 लाख हो गए। 1961-62 में बड़े फार्मों के पास कुल 387 लाख हेक्टेयर अर्थात् 28.9 प्रतिशत जमीन थी, वह 1970-71 में 500 लाख हेक्टेयर अर्थात् 30.8 प्रतिशत हो गई। भारत की गरीब जनता की भलाई का ढोल पीटने वाली कांग्रेस सरकार की, भारत के गरीबों को, यह देन है। कांग्रेस सरकार की नीति का परिणाम है कि आज देश में अरबपति घराने 67 हो गए हैं और 20 प्रतिशत जनता के पास 700,00 की सम्पत्ति है। अंग्रेज जब भारत में आए थे तो इस देश में 36 प्रतिशत लोग गरीब थे और इस समय 60 प्रतिशत गरीब हैं। ये आंकड़े बताते हैं कि कांग्रेस सरकार ने देश की गरीबी मिटाई नहीं, वरन् बढ़ाई है?

यह बात भली प्रकार समझ लेनी चाहिए कि बड़े फार्मों से गरीबों का नहीं, बड़ों का भला होता है। महंतों और मठाधीशों के फार्मों पर जनता तथा मजदूर नहीं फलते, वहां लडैत पलते हैं और वे अपनी ज्यादातियों से नक्सलवाद के विकास के लिए अनुकूल भूमि तैयार करते हैं। अफसोस इस बात का है कि कांग्रेस के कर्णधारों की समझ में छोटी-सी यह बात नहीं आती।

श्री पी० एम० अप्पू कृपि और भूमि-पुधार आयुक्त एवं संयुक्त सचिव ने अप्रैल 1971 में "सीलिंग ऑन लार्ज होल्डिंग" नामक अपनी रिपोर्ट में, छोटी जोतों का

समर्थन किया है। छोटी ज़मीनों के समर्थन में उनके, दो तर्क हैं—1. इनमें कुल मिला कर अधिक पैदावार होती है और 2. अधिक तादाद में मिलने वाली मानव-शक्ति का इस्तेमाल होता है! लेकिन मत्तारूढ़ कांग्रेस ने, न केवल श्री अप्पू के मत की उपेक्षा की, वरन् राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की शिक्षा की ओर से भी कान फेर लिए। फल यह हुआ कि पंजाब तथा हरियाणा में, स्वामित्व के लिए कोई सीमा निर्धारित नहीं की गई, उड़ीसा तथा मणिपुर में अधिकतम सीमा के लिए जो कानून बना, वह लागू न हो सका, मैसूर-केरल तथा उड़ीसा में अधिकतम भूमि की सीमा के बावजूद पुनर्वितरण के लिए एक एकड़ जमीन भी नहीं मिली; आन्ध्र-प्रदेश में 1,400 एकड़ भूमि मिली पर उसमें से एक एकड़ का भी वितरण नहीं हुआ। चौथी पंचवर्षीय योजना में, पुनर्वितरण करने का दावा किया गया है, लेकिन देखना यह है कि दावे तथा दायरे में कितना फर्क है? कांग्रेस सरकार द्वारा किए गये दावे, उसी प्रकार अधूरे रह जायेंगे, जिस प्रकार भारत में समाजवादी समता, तथा लोक-तंत्र स्थापित करने के दावे रह गए हैं।

मेरी समझ में 27.5 एकड़ से अधिक और 2.5 एकड़ से कम भूमि का सही उपयोग नहीं हो सकता। इसलिए एक परिवार के लिए जोत उतनी होनी चाहिए, जितनी पारंपरिक खेती की परिस्थितियों में लाभकारी हो सके। इंस्टीट्यूट आफ इकॉनामिक प्रोथ, दिल्ली विश्वविद्यालय के भूतपूर्व निदेशक प्रो० ए० एम० खुसरू भी 3 से 4 हेक्टेयर यानी 7.5 से 10.00 एकड़ भूमि, प्रति इकाई, मंजूर करते हैं। सरकार पिछले 25 वर्षों से भूमि के पुनर्वितरण की बातें कर रही है और चुनाव के समय ये बातें और भी तेज हो जाती हैं, पर अभी तक इस ओर काम शुरू नहीं हुआ है। यदि कुछ हुआ भी है तो वह अनुपयोगी तथा अधकचरा।

“टाइम्स आफ इण्डिया” ने 5 नवम्बर 1973 को एक समाचार प्रकाशित किया था, जिसमें कहा गया था कि मुख्यमंत्री श्री एच० एन० बहुगुणा के अनुसार फरवरी के अंत तक उत्तर-प्रदेश में 5.2 लाख भूमिहीन श्रमिकों को लगभग 2.5 लाख हेक्टेयर अतिरिक्त भूमि बांटी जायेगी। यह भूमि राज्य के 8,900 ग्रामों में उपलब्ध है! आवंटियों को एक जोड़ी बैल, बीज और अन्य सुविधाएं दी जायेंगी। इसके बाद, 30 जून 1976 को राजस्व मंत्री श्री वीरबहादुर सिंह ने घोषणा की थी कि लगभग 18.07 लाख एकड़ भूमि उत्तर-प्रदेश के 19.29 लाख भूमिहीनों में, 20 सूत्री कार्यक्रम के अन्तर्गत, अब तक बांटी जा चुकी है। इस वितरण से, आवंटन का रकबा और भी घट गया अर्थात् प्रति आवंटि को 1.2 एकड़ से कम 0.7 एकड़ भूमि आवंटित की

गई। मेरी समझ में, भूमि के इस पुनर्वितरण से, कांग्रेस पार्टी का प्रचार तो हो सकता है, किन्तु न तो आबंटनी का हित हो सकेगा और न देश में खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ेगा। इस तरह की कार्यवाही के कारण ही, अधिकतम भूमि-सीमा के लिए सन् 1972-73 में बनाये गए कानून एक तमाशा बनकर रह गए।

भारत के नेतृत्व ने, यदि 15 अगस्त 1947 के तुरन्त बाद ही, 10 या 25 एकड़ से अधिक भूमि वाली जोतों को अपने अधिकार में ले लिया होता और उसको फिर से इसी बुनियाद पर बांटा गया होता तो भूमिहीन जनता तथा देश दोनों को निश्चित लाभ हुआ होता। इसके बाद, हमें न तो उतनी बेरोजगारी का सामना करना पड़ता और न इतना धन विदेशों से खाद्यान्न मंगाने पर खर्च करना पड़ता।

जिस प्रकार भूमि के फिर से बांटवारे के विषय में, उत्तर-प्रदेश की सरकार ने, जल्दबाजी में केवल प्रचारात्मक निर्णय लिया था, उसी प्रकार एक अविवेकपूर्ण निर्णय उप-पहाड़ी-तराई क्षेत्र में जंगल काटकर वस्तियां बसाने का लिया गया। जंगल कट जाने से बाढ़ें अधिक आईं, भूमि का कटाव अधिक हुआ, उपजाऊ मिट्टी बह गयी और जनता पर विपत्तियों के पहाड़ टूट पड़े।

निष्कर्ष यह है कि कांग्रेस के अधिकांश निर्णय केवल अपनी पार्टी या पार्टी-नेता के प्रचार के लिए होते हैं, दिखावे के लिए होते हैं, जनता की बहबूदियों के लिए नहीं होते।

चकबंदी

मोटे तौर पर, चकबंदी से यह समझा जाता रहा है कि किसानों के बिखरे हुए खेतों को, दो-तीन चकों में इकट्ठा कर दिया जाए, ताकि उनको कुछ सुविधाएं प्राप्त हो जायें लेकिन चकबंदी का उद्देश्य इससे कुछ अधिक है।

आम तौर पर यह देखा जाता है कि बिहार, उड़ीसा तथा आन्ध्र-प्रदेश की तरह, कुछ दिन पहले, उत्तर-प्रदेश में भी किसानों की जोतें, दस से लेकर 20 स्थानों तक फैली हुई थीं इसलिए उनके सामने बड़ी विकट समस्याएं रहती थी कि किस प्रकार फसलों की रखवाली की जाए, किस तरह बिखरे हुए खेतों की सिंचाई की जाए और किस प्रकार गांव के एक कोने से दूसरे कोने तक, अपने बैलों को दौड़ाया जाए। चकबंदी होने के बाद, केवल ये परेशानियां ही दूर नहीं हुईं, पैदावार भी बढ़ी। अगर सरकार ने, बाहर से खाद्यान्न मंगाने की नीति को न अपना कर, खेती की उन्नति का रास्ता अप-

नाया होता तो पिछले कुछ वर्षों में बाहर से आयात 64.5 लाख टन खाद्यान्न न मंगाना पड़ता और इस पर खर्च किया जाने वाला धन, किसानों को सहायता के रूप में दिया गया होता, तो निश्चित है कि न केवल भारतीयों के लिए पर्याप्त खाद्यान्न ही मिलता, बल्कि भारत खाद्यान्न का निर्यात करने में भी सफल होता और इस सफलता से, पर्याप्त विदेशी मुद्रा भी अर्जित करता और दूसरे अनेक देशों में अपनी साख भी बना लेता। कम से कम, गरीब मुल्क कहलाने के अभिशाप से तो बच ही जाता।

चकबन्दी का सबसे बड़ा लाभ तो यह हुआ कि किसान तथा सरकार के बीच सीधे सम्बन्ध की स्थापना हो गई, दोनों के बीच में वर्तमान जमींदार, जो प्रायः प्रति तीसरे वर्ष लगान-वृद्धि से, जोतदारों को परेशान किया करता था, मिट गया और जोतदार लगान-वृद्धि की विपत्ति से, एक बहुत बड़ी सीमा तक, छुटकारा पा गया। दूसरे, बीम से पच्चीस जगह तक फैले उसके खेत, दो या तीन चकों के रूप में संगठित हो गए। जिन पर नलकूप लगाकर सिंचाई की सुविधा हो गई, अपने चकों पर रहने तथा पशु बांधने का इन्तजाम होने से फसल की रखवाली की समस्या हल हो गई, पानी के बंटवारे के सवाल पर होने वाले झगड़े खत्म हो गए, हदबन्दी के सवाल पर होने वाली मुकदमेवाजी मिट गई, जरूरत से अधिक पानी के निकास का इंतजाम हो गया, एक कोने से दूसरे कोने तक आने-जाने में होने वाली पशु तथा आदमियों की परेशानियां मिट गई, मानव-श्रम की बचत हो गई, कृषि-उपकरणों को इकट्ठा करके रखने की सुविधा हो गई, पैदावार-अन्न, भूसा-चारा, उपले तथा कोल्हू आदि आंखों के सामने सुरक्षित हो गए और अन्ततः कृषि-उत्पादन के तीनों कारकों-भूमि, पूंजी तथा श्रम की उत्पादकता बढ़ गई। इस तरह, उत्तर-प्रदेश के किसानों के लिए चकबन्दी एक वरदान के रूप में सामने आई। सब लोग जानते हैं कि उत्तर-प्रदेश जमींदारी उन्मूलन कानून के निर्माण में, इन पंक्तियों के लेखक का ही एकमात्र हाथ है। उसकी सम्पूर्ण संकल्पना तथा शब्दावली लेखक की अपनी है।

उत्तर-प्रदेश की चकबन्दी का नतीजा यह निकला कि सन् 1962 तक, प्रदेश की 1,62,63,809 खेतों के 28,27,940 तक बना दिये गए और एक चक में औसतन 5.75 खेत शामिल हो गए। इसका एक उदाहरण काफी होगा। जिला बस्ती की डोमरियागंज तहसील में छोटे-छोटे खेतों की बहुतायत थी। एक किसान परिवार के पास औसतन 25 खेत थे, जिनका क्षेत्रफल 300 एकड़ था। इसका अर्थ यह है कि एक छोटे खेत का औसत रकबा 4 बिस्वा यानी 600 वर्ग गज के आस-पास था। चकबन्दी

के बाद, एक परिवार के अधिकार वाले 25 खेतों को दो चको में बदल दिया गया ।

मालकोम डार्लिंग का कहना है कि "चकबंदी के लाभकारी परिणामों को गिनाना आसान है लेकिन उन्हें कार्यरूप में परिणत करना कठिन है ।" मेरे मंत्रित्वकाल में, उत्तर-प्रदेश में चकबंदी के समस्त लाभ किसानों को मिले और कठिन काम आसान बन गया ।

श्री लेडजिन्स्की द्वारा "फोर्ड फाउंडेशन" में दी गयी अपनी रिपोर्ट में उत्तर-प्रदेश की चकबंदी योजना की सराहना की गयी है । लेकिन देश का दुर्भाग्य है कि इस देश के आधे राज्यों ने ही चकबंदी कानून बनाये हैं । आन्ध्र-प्रदेश, जम्मू-कश्मीर, आसाम, केरल, उड़ीसा, तमिलनाडु और पश्चिम-बंगाल का किसान अभी तक इस लाभ को नहीं उठा पाया । अनुमान है कि देश में 450 लाख हेक्टेयर से अधिक भूमि की चकबंदी नहीं हुई । इस योजना का अधिकांश लाभ पंजाब, हरियाणा, उत्तर-प्रदेश तथा महाराष्ट्र ने उठाया है और आंशिक लाभ बिहार तथा गुजरात ने । नीचे की तालिका से, इस कार्य की प्रगति का पता लगता है ।

तालिका 53

भारत में विभिन्न राज्यों में चकबंदी किये गए क्षेत्रफल का विवरण

(लाख हेक्टेयर में क्षेत्रफल)

क्रम सं०	राज्य	पहली योजना से पूर्व	पहली योजना	दूसरी योजना	तीसरी योजना	तीन वार्षिक योजनाएं	चौथी योजना	1974-75 से 1977-78
1.	आन्ध्रप्रदेश	—	—	1.25	2.06	—	—	—
2.	आसाम	—	—	—	—
3.	बिहार	—	0.16	0.60	0.83	0.22	0.27	3.57
4.	गुजरात	—	0.43	0.65	1.15	0.78	3.98	4.17
5.	हरियाणा	—	—	—	...	1.59	1.27	...
6.	जम्मू-कश्मीर	—	—	—	0.22
7.	मध्यप्रदेश	9.77	1.93	3.59	8.02	3.28	7.95	—
8.	महाराष्ट्र	—	1.75	3.55	16.69	21.22	53.35	30.97
9.	कर्नाटक	0.86	1.09	2.88	3.60	2.40
10.	उड़ीसा	—	—	—	0.11
11.	पंजाब	—	24.72	34.19	31.29
12.	राजस्थान	—	—	5.60	11.27	0.25
13.	उत्तर-प्रदेश	—	0.76	21.06	45.61	21.53	26.38	19.14
14.	पश्चिम बंगाल	—	—	—	—
15.	हिमाचल प्रदेश	—	0.16	0.49	0.80	अनुपलब्ध	0.40	अनुपलब्ध
	जोड़	10.63	31.00	73.86	121.54	51.27	93.64	57.96

निष्कर्ष यह है कि कांग्रेस सरकार की शिथिलता और किसानों के प्रति उपेक्षा आदि का परिणाम है कि भारत का किसान एक बड़ी लाभकारी योजना से वंचित रह गया है। यदि मैदानों की सभी कृषि-योग्य भूमि की चकबंदी करा दी गई होती, किसानों के नये बने चक्रों की मिचाई के लिए नलकूप बनवा दिए गये होते या पक्के कुएं बनाकर रहट लगा दिये गए होते, पशुओं के गोबर आदि का कम्पोस्ट खाद बनाने की विधि से किसानों को प्रशिक्षित कर दिया गया होता तो निश्चित ही भारत को खाद्यान्न मंगाने के लिए विदेशों को बहुत बड़ी रकम न चुकानी पड़ती। इस समस्त योजना पर, सरकार को, अनुमानत, इतना खर्च न करना पड़ता, जितना वह बाहर से अन्न मंगाने पर कर रही है। यह सिर्फ इसलिए नहीं हुआ कि कांग्रेस-सरकार केवल किसान तथा मजदूरों के हितों की रक्षा का नारा लगाती है, और काम वह करती है जिससे अमेरिका तथा अन्य देशों के पूँजीपतियों को लाभ हो। विदेशों से अन्न तथा स्टील मंगाने के पीछे यही नीति है। अपने शासन के लगभग चार दशकों में, उसने जितना लाभ देश के बड़े पूँजीपतियों अथवा बड़े-बड़े भू-स्वामियों को पहुंचाया है, उतना गरीब किसान तथा मजदूरों को नहीं। यह, इसीलिए हुआ कि सरकार में, कोई प्रभावशाली व्यक्ति किसानों तथा मजदूरों का पक्षधर नेता नहीं है।

सेवा सहकारी समितियां

चकबंदी से किसानों को बहुत-से लाभ हैं, लेकिन चकबंदी न तो भूमि का रकबा बढ़ा सकती है और न सीमांत अथवा लाभकारी-जोतों की समस्याओं को हल कर सकती है। इन समस्याओंका समाधान केवल सेवा-सहकारी-समितियों के जरिए हो सकता है। इस योजना के अनुसार, भूमि की स्वतन्त्र इकाइयोंका, भूमि के मालिक किसान की स्वेच्छा से, सहकारी समितियों में समाहार कर दिया जाए। इससे हम, बड़ी मशीनों से चलाये जाने वाले बड़े फार्मों के परिणाम-स्वरूप पैदा हुई बेरोजगारी से भी बच जायेंगे, भूमि के स्वामित्व हरण से उत्पन्न किसान की उपेक्षा वृत्ति से भी बच निकलेंगे, खेतिहर मजदूर बढ़ाने की नीति से भी दूर रहेंगे और अलाभकारी राष्ट्रीयकरण के खतरे से भी मुक्त रहेंगे।

इस योजना के द्वारा, किसानों को, औद्योगिक सभ्यता के दुष्परिणामों से बचाया जा सकता है, यानी महावनी नीति के शोषण से मुक्त रखा जा सकता है, निजी

सम्पत्ति की सभी सुविधाओं तथा तकनीकी लाभों को उसके हितों के लिए सुरक्षित रखा जा सकता है, एक सीमा तक निजी सम्पत्ति-रक्षा के प्रोत्साहन से लाभान्वित किया जा सकता है और उनको सहयोग तथा सहकारिता के लाभों में रुचि लेना सिखाया जा सकता है। सहकारिता का अर्थ केवल जोतों को मिलाकर एक करना और किसानों को जोत की मिल्कियत से वंचित करना नहीं है।

होरेम प्लनकेट फाउंडेशन के अध्यक्ष डा० सी० आर० फे ने 1943 में "इयर बुक आफ एग्रीकल्चर को-आपरेटिव" में, उत्तरी यूरोप के अपने अनुभव के आधार पर एक महत्व की बात कही है। वह कहता है कि परिवार की खेती के लिए ज्यादा से ज्यादा तकनीकी ज्ञान उपलब्ध कराना बड़ा आवश्यक है और यह ऐसी हालत में होना चाहिए कि भूमि इकाई राजकीय संरक्षण का विषय बन जाए और व्यक्तिगत परिवार के प्रयत्नों को खरीदा तथा विक्री के सामूहिक प्रयत्न के साथ जोड़ा जा सके।

बात बड़ी साफ है कि सहकारिता का उद्देश्य होना चाहिए हमारे देश में फँली आर्थिक अराजकता से किसानों को बचाना, दूसरी ओर साम्यवादी देशों के अंधानुकरण पर सामूहिक खेती के दुष्परिणामों से उनकी मुक्ति और तीसरी ओर जापान तथा पश्चिमी यूरोप की कृषि-प्रणाली को अपनाने के लिए किसानों को प्रेरित करना ताकि खेत और किसान की पहचान बनी रहे और प्रति एकड़ उत्पादन भी बढ़ जाए। लोकतन्त्र की यही सच्ची प्रणाली हो सकती है। लोकतन्त्र की धीमी प्रगति से ऊबकर, कुछ लोग सामूहिक खेती की वकालत तो करने हैं, किन्तु उसकी वकालत से ही सहज में ही लोकतन्त्र की हत्या भी हो जाती है।

सहकारी समितियों की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उनका गठन लोगों की उत्कट इच्छा के फलस्वरूप किया गया हो, उनसे लोगों की आम आवश्यकताओं के सहज हल निकलते हों, उनको कृषि सम्बन्धी तकनीकी ज्ञान कराने का वे माध्यम बनती हों, बाजार में होने वाले शोषण से किसानों को बचाती हों, फसल के मौसम में उनकी पैदावार के उचित मूल्य दिलाने की व्यवस्था करती हों, आवश्यकता के समय किसानों को अग्रिम मूल्य चुकाने में समर्थ हों और इन समितियों के गठन को सफल बनाने की मानसिकता लोगों में पैदा करती हों अर्थात् लोकतन्त्र के निर्माण की दिशा में ये समितियाँ महत्वपूर्ण योग दे सकती हैं।

इन सहकारी समितियों को सरकार का सहयोग प्राप्त हो, तो वे भारत के देहात में सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना में योग दे सकती हैं। ये समितियाँ किसानों को व्यापारी-वर्ग के शोषण से बचाकर, उनके कृषि-उत्पादन ही नहीं, वरन् लघु-उद्योगों के उत्पादन का उचित मूल्य दिलाने में समर्थ हो सकती हैं।

किसान ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित पुस्तकें

1. जातिवादी कौन ? 2. हू इज ए कास्टिस्ट ?
एक विश्लेषण एन एनालेसिस
(हिन्दी) (अंग्रेजी)
मूल्य—2.00 रुपये मूल्य—2.00 रुपये
3. भारत का आर्थिक पतन :
कारण एवं समाधान मूल्य 1-00
4. हाउ वी कांकर्ड इंडिया (अंग्रेजी) निःशुल्क वितरण
5. सरकारी सेवाओं में किसान संतान के लिए
50 प्रतिशत आरक्षण क्यों ?
निःशुल्क वितरण

प्रकाशन विभाग :

दि किसान ट्रस्ट, दिल्ली
12 तुगलक रोड, नई दिल्ली-110011

शाखा कार्यालय

1. 6-ए, राज भवन कालोनी
लाल बहादुर शास्त्री मार्ग
लखनऊ (उ. प्र.)
2. बी-10 विधायक निवास, जयपुर
3. 6/2 आर. ब्लाक
न्यू स्पेशल टाइप,
पटना-1 (बिहार)
4. दुर्गाकालोनी, सोनीपत स्टेशन
रोहतक

1. 57/1947

(1947)

1947

1947

1947

1947

1947

1947

1947

1947

1947

1947

1947

1947

1947